आप्तमीमांसा : एक अनुशीलन

-प्रो. वीरसागर जैन

(मंगलाचरण)

वीतराग सर्वज्ञ जो, स्याद्वाद भाषन्त।
उनको मन-वच-काय से, मेरा नमन अनन्त॥

1. 'आप्तमीमांसा' के रचयिता और उनकी कृतियाँ -

'आप्तमीमांसा' की रचना आज से लगभग 1800 वर्ष पूर्व विक्रम की द्वितीय-तृतीय शताब्दी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने की है।

'आप्तमीमांसा' का दूसरा नाम 'देवागमस्तोत्र' भी प्रसिद्ध है, क्योंकि इसका प्रारंभ 'देवागम' शब्द से होता है और यह मूलतः एक स्तोत्रकाव्य है। इसमें आप्त की मीमांसा के साथ उसकी स्तुति भी की गई है।

आचार्य समंतभद्र स्वामी का परिचय यद्यपि पूर्णरूप से प्राप्त नहीं होता, पर जितना भी उपलब्ध होता है उसे उनकी सभी प्रकाशित कृतियों के प्रारंभ में दी गई 'भूमिका' या 'प्रस्तावना' आदि से भी जाना जा सकता है और 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा' आदि इतिहास-ग्रंथों से भी जाना जा सकता है, अतः उसे यहाँ विस्तारभय से नहीं लिखते हैं; तथापि आचार्य समन्तभद्र स्वामी के सम्बन्ध में इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि वे वादी, वाग्मी, कवि और एक उच्चकोटि के दार्शनिक एवं तार्किक थे तथा उनके द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना की गई है जिनमें से अनेक तो किसी कारण से नष्ट या अनुपलब्ध हो गये हैं, यथा- गंधहस्ति महाभाष्य, षट्खण्डागम-टीका[1], सिद्धान्त रसायनकल्प[2] आदि; किन्तु निम्नलिखित 5 ग्रंथ हमें आज भी उपलब्ध होते हैं -

1. **आप्तमीमांसा -** इसका विस्तृत परिचय यहाँ आगे लिखा ही जा रहा है।
2. **युक्त्यनुशासन-** इस ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक जिनशासन को समीचीन सिद्ध किया गया है। इस पर आचार्य विद्यानन्द स्वामी की संस्कृत टीका 'युक्त्यनुशासनालंकार' भी मिलती है।
3. **स्वयंभूस्तोत्र-** इसमें 143 श्लोकों में 24 तीर्थंकरों की दार्शनिक स्तुति की गई है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका भी उपलब्ध होती है।
4. **स्तुतिविद्या (जिनशतक)-** इसमें भी कलात्मक ढंग से जिनेन्द्र-स्तुति की गई है। इसका अपर नाम 'जिनशतक' भी है।
5. **रत्नकरण्ड श्रावकाचार-** इसमें 150 श्लोकों में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है। इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका उपलब्ध होती है।

उक्त सभी ग्रन्थ संस्कृत भाषा में काव्यात्मक शैली में लिखे गये हैं। यहाँ इन्हीं में से एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'आप्तमीमांसा' का संक्षिप्त सार साधारण लोगों के समझने के लिए लिखा जाता है। आशा है कि इससे जैनदर्शन एवं जैनन्याय के छात्रों को भी बहुत लाभ होगा।

2. 'आप्तमीमांसा' का अर्थ -

'आप्तमीमांसा' पद दो शब्दों से मिलकर बना है- 1. आप्त और 2. मीमांसा। दोनों ही शब्द सावधानीपूर्वक समझने योग्य हैं।

'आप्त' एक महत्त्वपूर्ण परिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है- समीचीन वक्ता, प्रामाणिक पुरुष और 'मीमांसा' का अर्थ होता है- स्वरूप का विश्लेषण एवं निर्धारण। इस ग्रंथ में समीचीन वक्ता के स्वरूप का विश्लेषण एवं निर्धारण किया गया है, अतः इसका नाम 'आप्तमीमांसा' है।

जैनदर्शन के अनुसार 'आप्त' में निम्नलिखित तीन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इनके बिना कोई भी आप्त नहीं हो सकता -

1. वीतरागता (निर्दोषत्व)

2. सर्वज्ञता (निरावरणत्व)

3. हितोपदेशिता (स्याद्वादित्व)

आप्त की अनेक परिभाषाएँ (लक्षण) विभिन्न जैन-ग्रंथों में निम्नानुसार प्राप्त होती हैं-

(क) 'आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।।' -रत्नकरण्डश्रावकाचार, 5

(ख) 'यो यत्राविसंवादक: स तत्राप्तः।' -अष्टशती, 78

(ग) 'यो यत्रावञ्चक: स तत्राप्त:।' -प्रमेयरत्नमाला, 3/95

(घ) आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परम हितोपदेशक:।' -न्यायदीपिका, 3/74

(ङ) 'सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्।
सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः।।' -यशस्तिलकचम्पू, 6/52

(च) 'ववगदअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो।' -नियमसार, 5

(छ) 'आप्तः शंकारहितः। शंका हि सकलमोहरागद्वेषादयः।' -नियमसार-टीका, 5

(ज) 'आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः।

-स्याद्वादमंजरी, 1/18

इसीप्रकार की और भी अनेक परिभाषाएँ यहाँ उद्धृत की जा सकती हैं, परन्तु इन सब परिभाषाओं को आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' के एक ही मंगलाचरण-श्लोक में बड़ी कुशलता से समाहित कर दिया है। यथा-

"मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

अर्थात् जो मोक्षमार्ग का नेता (हितोपदेशी/स्याद्वादी) है, कर्म-पर्वतों का भेत्ता (वीतराग/निर्दोष) है और विश्वतत्त्वों का ज्ञाता (सर्वज्ञ/ निरावरण) है, वही आप्त है और मैं उसे उसके इन्हीं गुणों की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता हूँ।

3. मीमांसा और परीक्षा में अन्तर –

प्रश्न- जैनदर्शन में 'आप्तमीमांसा' की भाँति एक 'आप्तपरीक्षा'[3] नाम का ग्रंथ भी उपलब्ध होता है और वह भी प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में जैनदर्शन के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। प्रश्न है कि क्या 'परीक्षा' और 'मीमांसा' में कोई अन्तर है?

उत्तर- हाँ, एक दृष्टि से इन दोनों में अन्तर है। आप्त कौन है- इसका निश्चय करना 'आप्तपरीक्षा' है और आप्त कैसा है- इसका निश्चय करना 'आप्त-मीमांसा' है।

जिसप्रकार अनेक असली-नकली रत्नों में से कौन-सा असली रत्न है- इसे बताने को 'रत्नपरीक्षा' कहते हैं और उसके बाद उस असली रत्न का स्वरूप कैसा कैसा होता है और कैसा कैसा नहीं होता है - ऐसा बताने को 'रत्नमीमांसा' कहते हैं। उसीप्रकार कौन आप्त है और कौन नहीं- ऐसा निश्चय करना 'आप्तपरीक्षा' कहलाता है और आप्त ऐसा ही (वीतराग, सर्वज्ञ और स्याद्वादी ही) होता है तथा ऐसा (रागी-द्वेषी, अल्पज्ञ और एकान्तवादी) नहीं होता है- ऐसा निश्चय करने का नाम 'आप्तमीमांसा' है।

इस बात को और अधिक स्पष्टता से समझने के लिए हम 'आप्तपरीक्षा' और 'आप्तमीमांसा' ग्रंथों की विषयवस्तु का भी विहंगावलोकन कर सकते हैं। यथा 'आप्तपरीक्षा' में समझाया गया है कि महेश्वर आप्त नहीं है, सुगत भी आप्त नहीं है, कपिल भी आप्त नहीं है, परमपुरुष भी आप्त नहीं है और अर्हत् ही आप्त है; अतः इस ग्रंथ का नाम 'आप्तपरीक्षा' रखा गया है। किंतु 'आप्तमीमांसा' में सीधे-सीधे यह नहीं समझाया गया है कि महेश्वर, सुगत, कपिल आदि आप्त नहीं हैं और अर्हत् ही आप्त है; अपितु यह समझाया गया है कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो और स्याद्वादी

हो वही आप्त हो सकता है और जो रागी-द्वेषी हो, अल्पज्ञ हो, एकान्तवादी हो, वह कथमपि आप्त नहीं हो सकता; इसीलिए इस ग्रंथ का नाम 'आप्तमीमांसा' है।

4. आप्त की मीमांसा/परीक्षा की आवश्यकता -

प्रश्न- जैनदर्शन तो कहता है कि व्यक्ति कोई भी हो, हमें तो तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिए और जिसके वचन युक्तिसंगत हो उसे ग्रहण कर लेना चाहिए।[4] ऐसी स्थिति में 'आप्त' (समीचीन वक्ता/प्रामाणिक पुरुष) की परीक्षा की क्या आवश्यकता है? सीधे तत्त्व की ही परीक्षा क्यों न कर ली जाए ?

उत्तर- आप्त भी तो एक तत्त्व ही है, अत: उसकी परीक्षा भी तत्त्व-परीक्षा ही है। दूसरी बात, सभी लोग सदा सभी तत्त्वों की परीक्षा नहीं कर सकते हैं, संभव ही नहीं है; अत: आप्त की परीक्षा करना आवश्यक है। उसी से हमको सर्व तत्त्वों का ज्ञान-श्रद्धान संभव है।

जिस प्रकार रोज-रोज सभी दुकानों पर जा-जाकर एक-एक सामान की परीक्षा करना संभव नहीं होता, अतः हम किसी प्रकार से परीक्षा करके एक दुकान की प्रामाणिकता का निर्णय कर लेते हैं और फिर रोजाना उसी दुकान से सारा सामान खरीदते रहते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक तत्त्व की परीक्षा करना सदा सबके लिए संभव नहीं है, अत: आप्त (प्रामाणिक वक्ता) की परीक्षा करना आवश्यक है।

यही कारण है कि जैनाचार्यों ने 'आप्त' की परीक्षा एवं मीमांसा के सम्बन्ध में आप्तपरीक्षा, आप्तमीमांसा आदि ग्रंथों की रचना की। ये ग्रंथ अत्यन्त प्रयोजनभूत हैं।

5. आप्तमीमांसा की विभिन्न टीकाएँ -

आप्तमीमांसा पर संस्कृत भाषा में मुख्य रूप से तीन टीकाएँ उपलब्ध होती हैं -

1. अष्टशती, आचार्य अकलंक, सातवीं शती।
2. अष्टसहस्री (आप्तमीमांसालंकृति), आचार्य विद्यानन्दि, आठवीं शती।
3. आप्तमीमांसावृत्ति, आचार्य वसुनन्दि, बारहवीं शती।

जो सज्जन 'आप्तमीमांसा' का गूढ-गंभीर अध्ययन करना चाहते हैं अथवा 'आप्तमीमांसा' की गंभीरता का अनुभव करना चाहतेहैं, उन्हें इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। ये तीनों संस्कृत टीकाएँ जैन वाङ्मय की अनमोल विरासत हैं।

इनके अतिरिक्त पं. जयचंद छाबड़ा (उन्नीसवीं शती) ने भी **देवागमस्तोत्र-वचनिका** लिखी है जो इस ग्रन्थ को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है।

प्रो. उदयचन्द जैन सर्वदर्शनाचार्य ने भी इसकी एक हिंदी-टीका **'आप्तमीमांसा तत्त्वदीपिका'** नाम से लिखी है जो श्री गणेश वर्णी शोध संस्थान वाराणसी से प्रकाशित हुई है। वह भी हिंदी-पाठकों के लिए अत्यंत लाभदायक टीका है। जिज्ञासुओं को उसका भी अध्ययन करना चाहिए।

एक सरल-सुबोध एवं संक्षिप्त हिन्दी-टीका पं. जुगल किशोर 'मुख्तार' की भी उपलब्ध होती है जो वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

इसीप्रकार आर्यिका ज्ञानमती माताजी और आचार्य विद्यासागरजी ने भी देवागमस्तोत्र का हिन्दी-पद्यानुवाद किया है।

जो लोग अंग्रेजी भाषा में 'आप्तमीमांसा' का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली से अंग्रेजी में भी 'आप्तमीमांसा' प्रकाशित की गई है।

6. आप्तमीमांसा की विषयवस्तु -

'आप्तमीमांसा' में कुल 114 कारिकाएँ हैं, जो दस परिच्छेदों में विभाजित हैं। सभी परिच्छेदों की विषय-वस्तु संक्षेप में इस प्रकार है -

पहला परिच्छेद (कारिका 1 से 23 तक)

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम कहा गया है कि आप्त में अन्य कोई कितने ही चामत्कारिक गुण (देवागम-नभोयान-चामरादि) हों, पर उनसे कुछ नहीं होता, उनसे उसे 'आप्त' नहीं माना जा सकता, आप्त को तो केवल वीतरागता, सर्वज्ञता और स्यावादिता के कारण ही 'आप्त' माना जा सकता है।

तथा यह वीतरागता और सर्वज्ञता कोई असंभव बात नहीं है, अपितु संभव है, युक्तिसिद्ध है। (सामान्य सर्वज्ञसिद्धि)

पुनश्च, ऐसा वीतरागी एवं सर्वज्ञ अन्य कोई कपिलादि नहीं है, किंतु अरिहंत ही है, क्योंकि वही दोषावरणों से रहित है। (विशेष सर्वज्ञसिद्धि)

कपिलादि वीतराग-सर्वज्ञ नहीं हैं और अरिहंत ही वीतराग-सर्वज्ञ हैं- इसका ठोस प्रमाण यह है कि कपिलादि एकान्तवादी हैं और अरिहंत स्याद्वादी।

जो एकान्तवादी होता है वह वीतराग- सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध सिद्ध होते हैं। तथा जो स्याद्वादी होता है वह वीतराग (निर्दोष) एवं सर्वज्ञ (निरावरण) सिद्ध होता है, क्योंकि उसके वचन युक्ति एवं शास्त्र के विरुद्ध नहीं होते, युक्ति एवं शास्त्र से खंडित नहीं होते।[5]

इसप्रकार आप्त (अरिहंत) में निर्दोषत्व (वीतरागता), निरावरणत्व (सर्वज्ञत्व) एवं स्याद्वादित्व- ये तीन गुण सिद्ध किये; किंतु इन तीनों में भी स्याद्वादित्व गुण को आप्त का विशेषतः मूलाधारभूत गुण सिद्ध किया; अतः अब पूरे ग्रंथ में इसी बात को अनेक प्रकार से विस्तारपूर्वक सिद्ध किया जाएगा कि एकान्तवाद किस प्रकार मिथ्या (युक्तिशास्त्रविरोधी) सिद्ध होता है और स्याद्वाद किस प्रकार समीचीन (युक्तिशास्त्राविरोधी) सिद्ध होता है।

विभिन्न एकान्तवादों के निराकरण (खण्डन) और तत्संबंधी स्याद्वाद की स्थापना (मण्डन) के इस क्रम में सर्वप्रथम भावाभाव (सत्-असत्) सम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करते हुए स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा -

भवैकान्त में दोष

भावैकान्त (सदेकान्त) को स्वीकार करने में निम्नलिखित दोष आते हैं -

1) प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावों का सर्वथा अभाव हो जाएगा। और ऐसा होने पर अनेक दोष उपस्थित हो जाएंगे।
2) प्रागभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य अनादि सिद्ध हो जाएगा।
3) प्रध्वंसाभाव को न मानने पर कार्यद्रव्य अनन्त सिद्ध हो जाएगा।
4) अन्योन्याभाव (इतरेतराभाव/अन्यापोह) को न मानने पर सभी सर्वात्मक हो जाएगा।
5) अत्यन्ताभाव को न मानने पर दो द्रव्य दो नहीं रहेंगे, चेतन अचेतन और अचेतन चेतन हो जाएगा।

अभावैकान्त में दोष -

अभावैकान्त (असदेकान्त) को स्वीकार करने में निम्नलिखित दोष है-

1) ज्ञान और वाक्य- इन दोनों का भी अभाव ही सिद्ध होगा। और तब, समझने-समझाने की यह सब प्रक्रिया ही सिद्ध नहीं होगी। कौन किस प्रकार स्वपक्षसिद्धि और परपक्षदूषण कर सकेगा?

उभयैकान्त में दोष -

उभयैकान्त में निम्नलिखित दोष है

सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव -इन दोनों में परस्पर विरोध है, अतः दोनों को निरपेक्षरूप से एक साथ कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

अवाच्यैकान्त में दोष -

अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है -

यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य ही हो तो फिर उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा।

स्याद्वाद की स्थापना -

प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव) की अपेक्षा सत् है, परचतुष्टय (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव) की अपेक्षा असत् है, क्रमश: दोनों की अपेक्षा उभय है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवाच्य है। तथा जिस प्रकार यहाँ चार भंग घटित किये हैं, उसी प्रकार अपनी-अपनी अलग-अलग विवक्षाओं से शेष तीन भंग (सदवाच्य, असदवाच्य, सदसदवाच्य) भी घटित कर लेना चाहिए।

दरअसल, भाव (सत्/अस्तित्व/विधि) और अभाव (असत्/नास्तित्व/निषेध) -ये दोनों धर्म अविनाभावी हैं, एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। अस्तित्व - नास्तित्वरूप उभय धर्मों वाली वस्तु ही शब्द का विषय होती है तथा भाव-अभाव दोनों रूप वस्तु ही अर्थक्रिया कर सकती है, एकान्त भाव या एकान्त अभावरूप वस्तु अर्थक्रिया नहीं कर सकती।

वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं, जब एक को मुख्य किया जाता है, तब अन्य धर्म गौण हो जाते हैं यही स्याद्वाद-व्यवस्था है।

जिस प्रकार यहाँ भावाभावसम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करके स्वाद्वाद की स्थापना की गई है, उसी प्रकार द्वैताद्वैत, नित्यानित्य, एकानेक आदि से सम्बन्धित एकान्तों का भी निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना करनी चाहिए, अतः अब आगे के परिच्छेदों में उसे ही समझाने का प्रयत्न किया जाएगा।

दूसरा परिच्छेद (कारिका 24 से 36 तक)

जिस प्रकार पहले परिच्छेद में भावाभाव-सम्बन्धी एकान्त चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है, उसीप्रकार इस दूसरे परिच्छेद में द्वैताद्वैत-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

अद्वैतैकान्त में दोष

अद्वैतैकान्त में निम्नलिखित दोष आते हैं -

1) कारकभेद, क्रिया-भेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप द्वैत, बन्ध-मोक्षरूप द्वैत- यह सब कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।
2) यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि की जाए तो हेतु और साध्य-ये द्वैत सिद्ध हो जाएगा और यदि हेतु के बिना ही अद्वैत की सिद्धि की जाएं तो यह अनुचित एवं अविश्वसनीय होगा, क्योंकि फिर तो कोई भी कुछ भी हेतु-विहीन कहेगा और उसे हमें मान्य करना होगा।
3) द्वैत के बिना तो 'अद्वैत' शब्द ही नहीं बनता, अत: द्वैत के अभाव में अद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती।

द्वैतैकान्त में दोष -

द्वैतैकान्त में निम्नलिखित दोष आते हैं-

1) द्रव्य और उसके अनन्त गुण-पर्याय सब पृथक्-पृथक् सिद्ध होंगे, उनमें किसी प्रकार का कोई अभेद सम्बन्ध नहीं रहेगा।
2) यदि कहा जाए कि वे पृथक्त्व गुण के कारण पृथक्-पृथक् नहीं होंगे तो पृथक्त्व गुण भी तो द्वैतैकान्त मानने पर द्रव्य से पृथक् ही सिद्ध हो जाएगा। और यदि पृथक् नहीं माना जाएगा तो द्रव्य और उस पृथक्त्व गुण में तो अद्वैत सिद्ध हो जाएगा, द्वैतैकान्त कहाँ बचेगा?
3) द्वैतैकान्त में सन्तान, साधर्म्य, समुदाय, प्रेत्यभाव आदि कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।
4) ज्ञान और ज्ञेय- दोनों में सत् की अपेक्षा अद्वैत (एकत्व) है। यदि उसे न माना जाए तो दोनों असत् सिद्ध होंगे।

उभबैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष -

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है-

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना -

अभेद की विवक्षा होने पर सत् सामान्य की अपेक्षा सभी पदार्थ एक हैं, अत: अद्वैत है और भेद की विवक्षा होने पर द्रव्यादि के भेद सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, अत: द्वैत है। वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, उसमें भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं है, क्योंकि वे प्रमाण के विषय होते हैं।

भेद और अभेद दोनों की क्रमशः विवक्षा होने पर द्वैताद्वैत है और दोनों की युगपद् विवक्षा होने पर अवाच्य है।

तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार से घटित कर लेना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद (कारिका 37 से 60 तक)

तीसरे परिच्छेद में नित्यानित्य-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा -

नित्यत्वैकान्त में दोष-

नित्यत्वैकान्त में निम्नलिखित दोष है -

1) समस्त कारकों का अभाव सिद्ध होगा, किसी प्रकार की कोई क्रिया नहीं घटित होगी। सब कुछ सदा शाश्वत कूटस्थ, निष्क्रिय सिद्ध होगा।
2) प्रमाण एवं प्रमाण-फल की व्यवस्था भी नहीं बन सकेगी।
3) किसी भी कार्य की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होगी।
4) पुण्य-पाप, जन्म-जन्मान्तर, कर्म-कर्मफल एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

अनित्यत्वैकान्त में दोष -

अनित्यत्वैकान्त (क्षणिकत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं

1) इसमें भी जन्म-जन्मान्तर, कर्म-कर्मफल, बन्ध-मोक्ष एवं प्रमाण-प्रमाणफल आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती।
2) यदि कार्य सर्वथा असत् है तो आकाशकुसुम की तरह उत्पन्न ही नहीं होगा अथवा उपादान कारण का कोई नियम नहीं रहेगा।
3) कृतप्रणाश, अकृताभ्यागम आदि दोष उत्पन्न होते हैं।
4) हिंसक को बन्ध नहीं होगा और बन्धन-बद्ध हिंसक सिद्ध नहीं होगा।
5) इत्यादि।

उभयकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष-

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्नलिखित दोष है-

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा?

स्याद्वाद की स्थापना-

द्रव्य-अपेक्षा वस्तु नित्य है, पर्याय-अपेक्षा अनित्य है, क्रमशः दोनों की अपेक्षा उभय (नित्यानित्य) है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार से घटित कर लेना चाहिए।

चौथा परिच्छेद (कारिका 61 से 72 तक)

इस परिच्छेद में भेदाभेद-सम्बन्धी एकान्त-चतुष्टय का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा-

भेदैकान्त में दोष

भेदैकान्त (अन्यत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष हैं

1) यदि कारण-कार्य, गुण-गुणी, सामान्य-सामान्यवान् में सर्वथा भेद माना जाए तो उनमें कोई स्व-स्वामी आदि सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा, सब सर्वथा पृथक्-पृथक् सिद्ध होंगे।
2) उनमें देशभेद और कालभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा, उनमें अभिन्नदेशता और अभिन्नकालता भी नहीं बन सकेगी।
3) समवाय से भी उनमें आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाएगा।

अभेदैकान्त में दोष-

अभेदैकान्त (अनन्यत्वैकान्त) में निम्नलिखित दोष है-

1) कार्य और कारण - इन दो में से एक का ही अस्तित्व बचेगा, उनमें द्वित्वसंख्या भी नहीं बचेगी।

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में दोष -

उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त में निम्मिन्लिखित दोष है-

परस्पर विरोध होने के कारण उभयैकान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता तथा अवाच्यैकान्त को भी इसलिय स्वीकार नहीं किया जा सकता की तब उसे 'अवाच्य' शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा ?

स्याद्वाद की स्थापना -

द्रव्य और पर्याय (गुण-पर्याय) भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् नहीं रहते, एक साथ रहते हैं, अतः उनमें भेद है, नानात्व है। क्रमशः दोनों की अपेक्षा भेदाभत्व है और युगपद् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्यत्व है। तथा शेष तीन भंग भी इसीप्रकार घटित पर लेना चाहिए।

पाँचवाँ परिच्छेद (कारिका 73 से 75 तक)

इस परिच्छेद में मात्र तीन कारिकाएँ हैं, परन्तु उनमें एक बड़े ही महत्त्वपूर्ण विषय को स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि वस्तु-स्वरूप को सर्वथा आपेक्षिक (सापेक्ष) और सर्वथा अनापेक्षिक (निरपेक्ष) भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसमें भी अनेक दोष आते हैं। यथा-

यदि धर्म, धर्मी आदि को सर्वथा सापेक्ष माना जाए तो उनकी समीचीन व्यवस्था सिद्ध नहीं होती। तथा यदि सर्वथा निरपेक्ष माना जाए तो उनमें सामान्य-विशेषभाव नहीं बनता।

इसीपकार पार्वोतन रीति से उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त को भी मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि धर्म-धर्मी का अविनाभाव ही एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होता है, स्वरूप नहीं। स्वरूप तो अपने षट् कारकों से स्वत: सिद्ध है।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

छठा परिच्छेद (कारिका 76 से 78 तक)

इस परिच्छेद में हेतु और आगम के एकान्तवादियों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। कहा गया है कि वस्तु की सिद्धि सर्वथा हेतु से ही अथवा सर्वथा आगम से ही मानना भी मिथ्या एकान्त है, क्योंकि ऐसा मानने पर अनेक दोष उपस्थित होते हैं। यथा-

वस्तु की सिद्धि यदि सर्वथा हेतु से ही मानी जाए तो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से उसका ज्ञान नहीं हो सकेगा, वे व्यर्थ सिद्ध होंगे। तथा यदि सर्वथा आगम से ही वस्तु की सिद्धि मानी जाए तो परस्पर विरुद्ध मत भी समीचीन सिद्ध होंगे।

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त विधि से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि जहाँ वक्ता आप्त नहीं हो वहाँ हेतु से साध्य की सिद्धि माननी/करनी चाहिए और जहाँ वक्ता आप्त हो वहाँ आगम से साध्य की सिद्धि माननी/करनी चाहिए।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

सातवाँ परिच्छेद (कारिका 79 से 87 तक)

इस परिच्छेद में अन्तरंगाथैकान्तवादी (ज्ञानाद्वैतवादी) बहिरंगाथैकान्तवादी, उभयैकान्तवादी और अवाच्यैकान्तवादी- इन चारों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा -

यदि अन्तरंगार्थ (ज्ञानमात्र) ही तत्त्व है तो सभी बुद्धि और वचन मिथ्या सिद्ध होंगे, प्रमाणाभास सिद्ध होंगे। तथा प्रमाणाभास भी तो प्रमाण के बिना कैसे बनेगा?

अनुमान से भी विज्ञप्ति मात्र को तत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें प्रतिज्ञादोष एवं हेतुदोष- दोनों उपस्थित होंगे। केवल बाह्यार्थ की सत्ता मानने पर प्रमाणाभास का लोप हो जाएगा और ऐसी स्थिति में विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक सभी मतों की सिद्धि हो जाएगी।

उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त प्रकार से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि स्वसंवेदन की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है और बाह्य अर्थ की अपेक्षा ज्ञान में प्रमाण और प्रमाणाभास-दोनों की व्यवस्था होती है।

अर्थ तीन प्रकार का है- बुद्धिरूप, शब्दरूप और अर्थरूप। इनमें से बाह्य अर्थ के होने पर ही बुद्धि और शब्द में प्रमाणता होती है, बाह्य अर्थ के अभाव में नहीं। बाह्य अर्थ के अभाव में बुद्धि और शब्द अप्रमाण या प्रमाणाभास माने जाएँगे।

यहाँ भी यथाविधि सप्तभंग घटित कर लेना चाहिए।

आठवाँ परिच्छेद (कारिका 88 से 91 तक)

इस परिच्छेद में दैव और पौरुष (पुरुषार्थ) सम्बन्धी एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा -

यदि सर्वथा दैव से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाए तो दैव की सिद्धि भी तो पौरुष से ही होती है, वह कैसे होगी? तथा यदि दैव से ही दैव की सिद्धि मानी जाए तो मोक्ष का अभाव हो जाएगा। मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करना निष्फल होगा।

यदि सर्वथा पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि मानी जाए तो पुरुषार्थ भी तो दैव से होता है, वह कैसे होगा? तथा यदि पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ की सिद्धि मानी जाए तो सभी प्राणियों का पुरुषार्थ सफल होना चाहिए। क्यों नहीं होता?

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त रीति से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि जहाँ इष्टानिष्ट अर्थ की प्राप्ति बुद्धिव्यापार के बिना होती है वहाँ उसे दैव से हुआ कहा जाता है और जहाँ बुद्धिव्यापार पूर्वक होती है वहाँ उसे पुरुषार्थ से हुआ कहा जाता है।

यहाँ भी पूर्वोक्त विधि से सप्त भंग घटित कर लेना चाहिए।

नौवाँ परिच्छेद (कारिका 92 से 95 तक)

इस परिच्छेद में पुण्य और पाप के बन्ध-विषयक एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है। यथा -

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि परदुःखहेतुत्व से पापबन्ध और परसुखहेतुत्व से पुण्यबन्ध है तो अचेतन पदार्थ और कषाय-रहित जीव भी बन्ध को प्राप्त होंगे, क्योंकि वे भी पर के दु:ख-सुख में हेतु (निमित्त) होते हैं। किन्तु उन्हें बन्ध नहीं होता है।

तथा यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि स्व को दु:ख देने से पुण्यबन्ध और सुख देने से पापबन्ध होता है तो वीतराग एवं विद्वान् मुनि भी बन्ध को प्राप्त होंगे।

एतत्सम्बन्धी उभयैकान्त और अवाच्यैकान्त को भी पूर्वोक्त रीति से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद-व्यवस्था यह है कि स्व या पर में होने वाला सुख-दुःख यदि विशुद्धि और संक्लेश का अंग है तो उससे क्रमश: पुण्यबन्ध और पापबन्ध होता है, किन्तु यदि वह विशुद्धि या संक्लेश किसी का भी अंग नहीं है तो वह बन्ध का कारण नहीं होता।

दसवाँ परिच्छेद (कारिका 96 से 114 तक)

इस परिच्छेद में सर्वप्रथम 4 कारिकाओं में बन्ध-मोक्ष के कारणों का स्याद्वाद-शैली से निर्णय किया गया है, उसके बाद 14 कारिकाओं में कतिपय विशेष अज्ञानों का निराकरण करके समीचीन तत्त्वज्ञान की स्थापना की गई है और अन्तिम 1 कारिका में उपसंहार है।

बन्ध-मोक्ष के कारणों के सम्बन्ध में दार्शनिक जगत में दो प्रकार के एकान्त इसप्रकार प्रचलित हैं- एक कहता है- अज्ञान से बन्ध होता है (सांख्य) और दूसरा कहता है- अल्पज्ञान से मोक्ष होता है (बौद्ध)। यहाँ इन्हीं दोनों प्रकार के एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई है।

प्रथम एकान्त में दोष-

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि अज्ञान से बन्ध होता है तो ज्ञेय तो अनन्त हैं, उनका अज्ञान केवलज्ञान से पूर्व तक सबके रहता ही है। यदि उस अज्ञान से बन्ध होगा तो कभी भी कोई केवली नहीं हो सकेगा।

द्वितीय एकान्त में दोष-

यदि सर्वथा ऐसा माना जाए कि ज्ञान से मोक्ष होता है तो अल्पज्ञान से ही मोक्ष हो जाना चाहिए। अथवा दूसरी आपत्ति यह है कि फिर अज्ञान से बन्ध भी मानना पड़ेगा और यदि अज्ञान से बन्ध माना जाएगा तो पुनः वही दोष उपस्थित होगा जो प्रथम एकान्त में हुआ था अर्थात् बहुत अज्ञान से बहुत बन्ध भी मानना पड़ेगा।

ज्ञान और अज्ञान जिस दशा में एक साथ रहते हैं वहाँ क्या होगा- बन्ध या मोक्ष? ज्ञान से मोक्ष मानोगे तो वह तो अल्प है, अज्ञान ही बहुत है, अत: बहुत अज्ञान से बहुत बन्ध भी मानना पड़ेगा। और फिर कभी कोई मुक्त नहीं हो सकेगा।

उभयैकान्त एवं अवाच्यैकान्त में दोष-

उक्त दोनों एकान्तों के जोड़रूप उभयैकान्त को और तत्सम्बन्धी अवाच्यैकान्त को भी पूर्वप्रतिपादित विधि से मिथ्या समझ लेना चाहिए।

स्याद्वाद की स्थापना -

स्यावाद की समीचीन व्यवस्था यह है कि मोह-सहित अज्ञान से बन्ध होता है और मोह-रहित अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इसीप्रकार मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष होता है, किन्तु मोह-सहित अल्पज्ञान से मोक्ष नहीं होता है।

इसप्रकार विविध एकान्तों का निराकरण करके स्याद्वाद की स्थापना की गई।

अब कुछ कारिकाओं में विशेष अज्ञानों (मिथ्या मान्यताओं) का निराकरण करते हुए सम्यक् तत्त्वज्ञान की स्थापना करते हैं। यथा-

कारिका	**विषयवस्तु**
99	इच्छादि नाना कार्यों की उत्पत्ति अपने-अपने कर्मानुसार होती है, उन्हें ईश्वर नहीं करता।
100	जीवों में स्वाभाविक ही भव्याभव्यत्व शक्ति पाई जाती है।
101	युगपत् सर्वभासी ज्ञान प्रमाण है और क्रमभावी सम्यग्ज्ञान नय है।
102	केवलज्ञान का फल उपेक्षा है और अन्य ज्ञानों का फल ग्रहण-त्याग। सामान्यत: तो अज्ञाननाश ही सर्वज्ञानों का फल है।
103	'स्याद्वाद' में 'स्यात्' पद एक धर्म का वाचक है, अनेकान्त का द्योतक है।
104	स्याद्वाद एकान्त का निषेधक और सप्तभंग-नय-सापेक्ष होता है।
105	स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान-दोनों ही सर्वतत्त्वप्रकाशक हैं, दोनों में मात्र प्रत्यक्ष-परोक्ष का ही अन्तर है।

106 हेतु और नय का स्वरूप।

107 द्रव्य का स्वरूप। तीनों कालों को विषय करने वाले समस्त नयों और उपनयों के विषयभूत अनन्त धर्मो से जिसका तादात्म्य सम्बन्ध है, उसे द्रव्य कहते हैं।

108 निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक्।

109 विधिवाक्य भी विधि एवं निषेध-दोनों अर्थों का कथन करता और निषेधवाक्य भी।

110 विधिवाक्य ही वस्तुज्ञान कराता है- ऐसा मानना मिथ्या है, एकान्त है।

111 निषेधवाक्य ही वस्तुज्ञान कराता है- ऐसा मानना मिथ्या है, एकान्त है।

112 अन्यापोह - निराकरण।

113 विधि-निषेध अविनाभावी होने से स्याद्वाद की सिद्धि होती है।

114 आत्मकल्याणाभिलाषी जीवों को सम्यक्-मिथ्या उपदेश में भेदज्ञान कराने के लिए यह आप्तमीमांसा लिखी है।

7. विविध एकान्तों का संक्षिप्त परिचय

'आप्तमीमांसा' में विविध एकान्तों का निराकरण करते हुए अनेकान्तवाद/स्याद्वाद की स्थापना की गई है, अत: उन एकान्तवादों को भी भलीभाँति समझना आवश्यक है। यद्यपि ऊपर आप्तमीमांसा की विषयवस्तु को पढ़ने-समझने के बाद इन एकान्तों को पृथक् से समझाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है, तथापि विस्तार-रुचि शिष्यों के लाभार्थ कुछ लिखा जाता है।

उल्लेखनीय है कि यहाँ विभिन्न एकान्तवादों का सम्बन्ध पृथक्-पृथक् दर्शनों के साथ बताया गया है, वह स्थूल-अपेक्षा से ही समझना चाहिए। अन्यथा वैसे तो एकान्त असंख्य-अनन्त प्रकार के हो सकते हैं।

इसप्रकार एकान्तवादों की संख्या यद्यपि अनन्त है, तथापि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के विधि- निषेध से आठ एकान्त विशेष रूप से बनते हैं। ऐसा लगता कि आप्तमीमांसा के प्रारम्भिक चार परिच्छेदों में उन्हीं 8 एकान्तों का निराकरण किया गया है, अत: यहाँ उन्हीं आठ एकान्तों का संक्षिप्त परिचय लिखा जा रहा है-

I. द्रव्य-अपेक्षा - भावैकान्त, अभावैकान्त।

II. क्षेत्र-अपेक्षा - भेदैकान्त, अभेदैकान्त।

III. काल-अपेक्षा - नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त।

IV. भाव-अपेक्षा - द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त।

1. भावैकान्त- इसका दूसरा नाम सदेकान्त भी है। इसका मानना है कि इस जगत् में सदा सर्वत्र भाव/सत् ही है, अभाव/असत् कहीं कुछ भी नहीं है, अत: अभाव को कथमपि (किसी भी अपेक्षा से) स्वीकार नहीं करना चाहिए। भावैकान्तवादी दर्शन मुख्यतः सांख्य है।

2. अभावैकान्त - इसका दूसरा नाम असदेकान्त भी है। यह भावैकान्त/सदेकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि इस जगत् में सदा सर्वत्र अभाव/असत् ही है, भाव/सत् तो कुछ भी नहीं है, अतः भाव को कथमपि (किसी भी अपेक्षा से) स्वीकार नहीं करना चाहिए। अभावैकान्तवादी दर्शन मुख्यतः वेदान्त है। क्योंकि वह ब्रह्मतिरिक्त सबका सर्वथा अभाव मानता है।

3. भेदैकान्त - इसका दूसरा नाम अन्यत्वैकान्त या पृथक्त्वैकान्त भी है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् ही है, चाहे वे वस्तु के एप गन-पर्याय ही हों; उन्हें किसी भी अपेक्षा से एक, अभिन्न या अपृथक् नहीं माना जा सकता। भेदैकान्तवादी मुख्यत: वैशेषिक दर्शन है।

4. अभेदैकान्त - इसका दूसरा नाम अनन्यत्वैकान्त या अपृथक्त्वैकान्त भी है। यह भेदैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा अभिन्न या अपृथक् रूप ही है, उन्हें किसी भी अपेक्षा से भिन्न-भिन्न या पृथक्-पृथक् नहीं कहा जा सकता। अभेदैकान्तवादी मुख्यतः सांख्य एवं वेदान्त दर्शन प्रतीत होते हैं।

5. नित्यैकान्त - इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा नित्य, कूटस्थ, शाश्वत या अनाद्यनिधन ही है; कुछ भी किसी भी अपेक्षा से अनित्य या परिणमनशील भी नहीं है। नित्यैकान्तवादी मुख्यतः सांख्य दर्शन है।

6. अनित्यैकान्त - इसका दूसरा नाम क्षणिकैकान्त भी है। यह नित्यैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि सब कुछ सर्वथा अनित्य या क्षणिक ही है, कुछ भी किसी भी अपेक्षा से नित्य नहीं कहा जा सकता। अनित्यैकान्तवादी मुख्यतः बौद्ध दर्शन है।

7. अद्वैतैकान्त- इसका मानना है कि जगत् में सर्वथा एक ही तत्त्व है; उसे किसी भी प्रकार से दो रूप नहीं कहा/माना जा सकता। अद्वैतैकान्तवादी मुख्यतः वेदान्त दर्शन है।

8. द्वैतैकान्त - यह अद्वैतैकान्त का एकदम उलटा है। इसका मानना है कि तत्त्व को किसी भी अपेक्षा से अद्वैत रूप नहीं कहा जा सकता, वह तो सर्वथा द्वैत रूप ही है। द्वैतैकान्तवादी मुख्यतः वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शन है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी है। वह किसी भी एकान्त को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसमें अनेकानेक दोष उपस्थित होते हैं, जैसा कि ऊपर विषयवस्तु लिखते समय बताया जा चुका है।

8. आप्तमीमांसा-विषयक अनुश्रुतियाँ

आप्तमीमांसा के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ या किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं। यद्यपि उनके सत्य होने में भी सन्देह नहीं प्रतीत होता, तथापि उन्हें सप्रमाण इदमित्थं के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, अत: उन्हें यहाँ लिखते हैं।

ये अनुश्रुतियाँ, हो सकता है अनेकानेक हों, पर यहाँ मैं दो ही का विशेष उल्लेख करना चाहता हूँ। यथा-

1. आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत टीका के रूप में एक 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जो आज हमें उपलब्ध नहीं होता। परन्तु कहा जाता है कि यह जो 114 श्लोक-प्रमाण 'आप्तमीमांसा' हमें उपलब्ध है, वह उसी 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' का मंगलाचरण है।

   आश्चर्य होता है कि जिस ग्रन्थ का मंगलाचरण ही इतना सारगर्भित हो कि उस पर अकलंक एवं विद्यानन्दि जैसे महान् आचार्यों ने अष्टशती एवं अष्टसहस्री जैसी व्याख्याएँ लिखीं तो वह पूरा ग्रन्थ (गन्धहस्तिमहाभाष्य) कैसा होगा?

   काश, वह गन्धहस्तिमहाभाष्य हमें कहीं-न-कहीं मिल जाए।

2. सातवीं शताब्दी की बात है। एक बार एक श्रावक चैत्यालय में जिनदर्शन करते समय स्तुति के रूप में देवागमस्तोत्र अर्थात् आप्तमीमांसा का सस्वर पाठ कर रहा था। बाहर से आचार्य विद्यानन्द स्वामी, जो तब वैष्णव ब्राह्मण ही थे, गुजर रहे थे। वे उस स्तोत्र को मन लगाकर सुनने लग गये और पूरा सुनने के बाद बहुत अधिक प्रभावित हुये। उन्होंने यद्यपि उस श्रावक से भी उसका अर्थ पूछा था जो वह नहीं बता सका था, किन्तु बाद में वे उसे कथमपि जानकर इतने अधिक प्रभावित हुए कि जैन मुनि के रूप में दीक्षित हो गये। उनके साथ उनके सैंकड़ों शिष्य भी जैन मुनि बन गये।

9. उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'आप्तमीमांसा' आचार्य समन्तभद्र स्वामी की एक ऐसी अत्यन्त प्रयोजनभूत कृति है जो आप्त का सम्यक् स्वरूप समझाकर हमारा बड़ा उपकार करती है। यह कृति विविध एकान्तों को मिथ्या सिद्ध करके स्याद्वाद की स्थापना करने में भी अपना अप्रतिम योगदान प्रदर्शित करती है। इससे एकान्तरूप संकीर्ण (मिथ्या) दृष्टि का त्याग कर स्याद्वादरूप उदार (सम्यक्) दृष्टि से सम्पन्न बनने की उत्तम शिक्षा प्राप्त होती है।

सन्दर्भ-

1. "स्वामी समन्तभद्र ने भी षट्खण्डागम के प्रथम पाँच खण्डों की अति सुन्दर संस्कृत भाषा में 48000 श्लोक-प्रमाण टीका की रचना की।" - जयधवला, प्रस्तावना, पृष्ठ 9
2. इसकी जानकारी मुझे निवाईवाले पं. राजकुमारजी जैन आयुर्वेदाचार्य ने दी है। उनका कहना है कि यह ग्रन्थ अभी भी बैंगलोर में पंडित शशिकांत शास्त्री ज्योतिषाचार्य के पास सुरक्षित है और वे उसे प्राप्त कर प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रहे हैं।
3. रचयिता- आचार्य विद्यानन्द स्वामी, सम्पादक- डॉ. दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक- वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, नई दिल्ली।
4. " पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
   युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।" - हरिभद्रसूरि, लोकतत्त्वनिर्णय, 1/38
5. स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
   अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।।6।। -आप्तमीमांसा